हिन्दी साहित्य में स्त्री उत्पीड़न एवं मुक्ति की चेतना की पड़ताल

हरिश्चन्द्र,
शोधछात्र–हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग
डॉ0 शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ

भारतीय समाज में औरत ही एक ऐसी हस्ती है, जिसका नसीब संस्कृतियों, क्षेत्रों, वर्गों और धर्मों में व्यापक अन्तर और भेद होने के बावजूद हर जगह एक जैसा ही रहता है। लगातार तिरस्कार और अपमान जैसे उसकी नियति है। औरत की अक्ल उसकी एड़ी में होती है, औरत झगड़े का सबसे बड़ा कारण होती है और औरत की असल दवा पिटाई है, औरत के बारे में इस प्रकार की सोच केवल गँवार कहे जाने वालों की ही बपौती नहीं है। भारतीय संसद में कई बार ऐसा हुआ है कि सत्ताधारी पक्ष को शर्म दिलाने के लिए चूड़ियाँ पेश की गयीं। स्पष्ट है कि चूड़ियाँ पेश करने का मकसद यह जताना रहा है कि आप औरत की तरह नालायक हैं। यहाँ भारतीय प्रजातन्त्र की एक और विडम्बना की ओर ध्यान दिलाना अप्रासंगिक न होगा। यूरोपीय उदारवादी परम्परा में प्रशिक्षित भारतीय संविधान के निर्माताओं ने राष्ट्र अध्यक्ष के लिए जो नाम चुना, वह 'राष्ट्रपति' था। इसके दो ही अर्थ हो सकते थे। या तो यह मानकर चला गया कि कभी कोई महिला इस पद पर विराजमान हो ही नहीं पायेगी या अगर कोई महिला इस पद को ग्रहण भी कर लेती है तो उसे पुरूष रूपी पति का रूप धारण करना होगा। वह सुश्री या श्रीमती रहते हुए भी इस पद की परिभाषा के बाहर मानी जायेगी।

महिलाओं के बारे में इस सोच की पैठ को समझना है, तो हमारे आस–पास घट रही दुर्घटनाओं में इसे अच्छी तरह देखा जा सकता है। अगर सड़क पर किसी वाहन से कुचल कर कोई व्यक्ति मर जाये तो अक्सर भीड़ उस वाहन को आग लगा देती है, पड़ोस के झगड़े की आवाज आ रही हो तो पड़ोसी दखल देते हैं या पुलिस बुला देते हैं, पर दिल्ली जैसे शहर में जहाँ औसतन प्रतिदिन एक बहू जलाकर मार दी जाती है, इस बात पर कोई दंगा नहीं होता। चश्मदीद गवाह अनजान बन जाते हैं। मध्यवर्गीय बस्तियों में जहाँ एक सर्वेक्षण के अनुसार 20 से 30 प्रतिशत घरों में पत्नियों को अक्सर पीटा जाता है, पड़ोसी बिल्कुल बहरे–गूँगे बने रहते हैं। सबसे शर्मनाक हाल तो पुलिस थानों का है। इस तरह के सैकड़ों उदाहरण हैं कि जब पीड़ित महिलाएँ अपना दुखड़ा लेकर थाने गयीं और रिपोर्ट दर्ज कराना चाहा, तो थाने में मौजूद पुलिस कर्मियों ने यह कहकर रिपोर्ट लिखने से मना कर दिया कि भारतीय परिवारों में औरत के साथ मारपीट तो चलती ही रहती है, इतना एडजस्ट तो औरत को करना ही चाहिए।

असूर्यपश्या, वह औरत जिसका चेहरा परिवार के पुरूष भी कम ही देख पाते थे, घर की देहरी लाँघकर जब बाहर की दुनियाँ में आयी, तो पुरूष से उसके सम्पर्क को नये आयाम मिले। ये सम्बन्ध पहले के उन सम्बन्धों से बहुत अलग हैं, जहाँ माँ, पत्नी, बहू, बेटी और भाभी जैसे रिश्तों से वह पुरूष से जुड़ी थी। अब वह एक व्यक्ति के तौर पर पुरूष के सम्पर्क में आयी है।

घर के बाहर चले आने का अर्थ है, अधिक से अधिक पुरूषों के सम्पर्क में आना। स्कूल, कॉलेज दफ्तर, सड़क, बस और तमाम दूसरी सार्वजनिक जगहों पर अब तक पुरूष का एकाधिकार रहा है। उस एकाधिकार के टूटने से

पुरूष हड़बड़ाया भी है, दूसरी तरफ उसने बाहर आयी इस औरत को स्वीकार करने की कोशिश भी की है। स्वीकृति–अस्वीकृति की यह स्थिति औरत ने घर में भी झेली है और बाहर भी। परिवार के पुरूष उसका बाहर जाना सहज रूप से नहीं ले पा रहे हैं, लेकिन वे पूरी तरह इसका विरोध कर पाने की स्थिति में भी नहीं हैं। इसके कारण अनेक प्रकार के असमंजस पैदा हुए हैं।

निश्चय ही यह औरत की उपलब्धि है। साथ ही यह रेखांकित करना भी जरूरी है कि स्त्री का यह संघर्ष पुरूष के खिलाफ संघर्ष नहीं है, उसके साथ एक बराबर के व्यक्ति के तौर पर सम्बन्ध बनाने का प्रयास है। वस्तुतः वह आर्थिक दबावों के कारण उदार नजर आ रहा है। यह सच है, लेकिन भारतीय समाज में खास तौर पर पुरूष के लिए यह स्वीकृति बहुत अपमानजनक मानी जाती है। इसीलिए इन बदली हुई परिस्थितियों में पुरूष और स्त्री के सम्बन्ध अधिक उलझे हुए नजर आते हैं। इसलिए औरत कहीं अधिक अकेली पड़ गयी है। परिस्थितियों के खिलाफ इस संघर्ष में पुरूष अपने पूर्वाग्रहों के कारण उसके साथ खड़ा नहीं हो पाता, बल्कि उसके संघर्ष और मुश्किल बना देता है।

जहाँ तक बाहर की दुनियाँ का प्रश्न है, स्त्री की उपस्थिति से उसकी संरचना ही बदल गयी है। स्त्री–पुरूष सम्बन्धों को नये आयाम भी मिल रहे हैं। स्वीकृति–अस्वीकृति का द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है। साथ पढ़ना या साथ काम करना, आदि के सबसे सक्रिय घण्टों में साथ रहना, साथ घूमना–फिरना, इस परिवेश में सम्बन्धों के औपचारिक निर्वाह से काम नहीं चल सकता। बरबस कहीं अधिक निकटता आती है। वह निकटता, जो पारम्परिक नैतिक मूल्यों की परिधि से बाहर है। अतः ये सम्बन्ध फिलहाल बहुत सहज भी नहीं है। लड़कियो और लड़कों को जिस समाज में अलग–अलग दायरों में रखकर बड़ा किया जाता है, वहाँ इस तरह के सम्बन्धों को स्वीकृति देना समाज के लिए तो मुश्किल होता ही है, खुद वे स्त्री–पुरूष भी उलझन में होते हैं। मगर इस सम्पर्क से अब बचा नहीं जा सकता। खुद ही दुविधा में फँसे ये लोग बार–बार भाई–बहन या इसी तरह के किसी सम्बन्ध के दायरे में आकर सुरक्षित महसूस करने की कोशिश करते हैं, मगर इससे सम्बन्धों की जटिलताएँ बढ़ती ही हैं, कम नहीं होतीं।

साथ काम करते हुए क्योंकि ज्यादा समय संपर्क बना रहता है, इसलिए एक सहजता आप ही आप आती है। इस सहजता के बावजूद लड़कियों या महिलाओं में एक दबा–सिमटापन और पुरूष में गलतफहमी की हद तक चला गया खुलापन भी आमतौर पर नजर आता है। मगर बाहर की दुनिया में आने के साथ–साथ जो सबक औरत ने सबसे पहले सीखा, वह इन परिस्थितियों से निबटना ही था। पुरूष की ईर्ष्या को भी उसने झेला, उसकी आक्रामकता को भी और अपना पौरूष साबित करने के लिए शारीरिक स्तर पर उतर आयी उसकी कुचेष्टाओं को भी। अब भी झेल रही हैं। यह एक आयाम है।

दूसरा आयाम यह है कि पुरूष ने औरत को अपने बीच स्वीकार किया है। दोनों के बीच एक अलग किस्म का आकर्षण भी पनपा है। यों किन्हीं दो व्यक्तियों के बीच के किसी भी सम्बन्ध को परिभाषित करना आसान नही है, मगर अपने कैरियर, अपने काम के साथ–साथ अपने परिवारिक जीवन के प्रति प्रतिबद्ध इन स्त्री–पुरूषों के बीच पनपे इन सम्बन्धों को नयी परिभाषा की आवश्यकता है। खासतौर पर दफ्तरी माहौल में, जहाँ सुबह से शाम तक साथ रहकर साझा काम करने होते हैं। दो विरोधी पालों में खड़े हो कर ठीक से काम नहीं किया जा सकता। एक दूसरे के व्यक्तित्व और काम का सम्मान करना ही होता है। उपलब्धियाँ और परेशानियाँ यहाँ साझा होती है। यह सम्बन्ध उस सम्बन्ध से बहुत अलग है, जहाँ पराए पुरूष का मतलब खुद को किसी खोल

में समेट लेना होता था और स्त्री खास तौर से घर के बाहर काम करने वाली स्त्री एक कौतूहल या हास्यास्पद घटना मात्र होती थी।

काम की जगह का मतलब वास्तव में काम ही होता है। अपनी क्षमता का भरपूर इस्तेमाल करने का प्रयास। प्रेम या रोमांस में ही स्त्री–पुरूष सम्पर्क की परिणति ढूँढने के यहाँ कोई मायने नहीं होते। यौनाकर्षण भी होता है, मगर अपनी सीमाएँ तय करना दोनों ही पक्षों ने सीखा है। खुद को और दूसरों को भी जब–जब हल्के ढंग से लिया गया, तब–तब सम्बन्ध विकृत हुए हैं। जहाँ सहजता का विकास होने दिया गया, वातावरण में नयी ऊष्मा आयी है। इसी के सामान्तर परिवार में भी नयी पेचीदगियाँ पैदा हुई हैं।

चूँकि वाह्य सम्पर्क ने परिवार में पुरूषों से औरतों की अपेक्षा को भी बदला है और ये अपेक्षाएँ पूरी नहीं हो पा रही हैं, इसलिए वह कहीं अकेली भी होती चली गयी है। पारम्परिक सामाजिक ढाँचे में औरत ज्यादा आजाद नहीं थी। वह भूमिका उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास में बाधा बन रही थी। इस भूमिका से उसने इन्कार किया। इससे एक हद तक उसके पुराने भावनात्मक सम्बन्ध भी टूटे। पुरूष ने उसे सुरक्षा दी थी, मगर साथ ही उसे सुरक्षा दी थी, मगर साथ ही उसे उस सुरक्षित घेरे के अन्दर ही रहने को विवश भी किया था। जब वह इस सुरक्षित घेरे से जबरन बाहर चली आयी, तो वही पुरूष उसका प्रतिद्वन्द्वी बनकर खड़ा हो गया। यानी उसका प्रतिद्वन्द्वी बनकर खड़ा हो गया। यानी जिन हालात ने औरत को ज्यादा स्वतन्त्रता और आत्मनिर्भरता दी, उन्हीं हालात ने उसका अकेलापन और मानसिक तनाव भी बढ़ाया है।

परिवार में औरत अकेली होती गयी है, इसका बड़ा कारण एक हद तक पुरूष का अहं है। यह भी कहा जा सकता है कि वह उलझन की स्थिति में है। जिस पारम्परिक ढाँचे के भीतर वह अपनी पत्नी, अपनी बेटी की भूमिका को आँकता है, वहाँ के वक्त बहुत आगे चला गया है। सो उसे कुछ खोने का एहसास हो रहा है। आर्थिक सत्ता के साथ–साथ तमाम दूसरे पारिवारिक निर्णयों और औरत के पूरे अस्तित्व पर अभी हाल तक इस पुरूष का नियंत्रण था। अतः अपनी सत्ता को पहचान कर उठ खड़ी इस औरत से पुरूष निकटता महसूस नहीं कर पा रहा। यही अलगाव उसे औरत की मदद भी नहीं करने देता। उसे लगता है कि यह बदली हुई औरत अपनी बुनियादी जिम्मेदारियों से इन्कार कर रही है, जबकि हुआ यह है कि उसने कुछ ज्यादा ही उत्तरदायित्व ओढ़ लिये हैं, लेकिन पुरूष उस समस्या को स्त्री के कर्तव्यों और अपनी उम्मीदों के परिप्रेक्ष्य में देख रहा है और औरत के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को नहीं समझ पा रहा है खुद औंरत अपनी इस नई स्थिति के कार्य–कारण सम्बन्ध नहीं स्थापित कर पा रही है। इसलिए वह निरन्तर मानसिक तनाव झेलती है। एक तरह का अपराध बोध उस पर हावी होता जाता है।

अनेक विरोधी परिस्थितियों के बीच खड़े होना और अपनी जगह बनाना आसान नहीं है। औरत के लिए तो यह संघर्ष दोहरा संघर्ष है। किसी भी सामान्य व्यक्ति की लड़ाई तो उसकी है ही, औरत होने की वजह से एक दूसरे स्तर पर भी निरन्तर मोर्चाबद्ध रहना होता है। इन दोनों मोर्चो पर सतर्कता से डटे रहने के लिए चाहिए ज्यादा तर्कसंगत दृष्टिकोण, सुलझा हुआ व्यक्तित्व तथा कुछ अन्य मानसिक और शारीरिक क्षमताएँ भी। इनके न होने का अर्थ है किंकर्तव्यविमूढ़ता। सो चलते हुए बार–बार औरत को बार–बार ठिठकना पड़ता है। मगर सिर्फ नकारात्मक दृष्टिकोण से पूरे परिवेश को नहीं देखा जाना चाहिए। इस स्वतन्त्र औरत से पुरूष का अहम् आहत हुआ, यह स्वाभाविक था। इसके बावजूद औरत को पुरूष का सकारात्मक साथ मिला है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। वस्तुतः जहाँ–जहाँ भी पुरूष ने यह माना कि औरत का यह संघर्ष,

उसका भी है और परिस्थितियों के खिलाफ दोनों को खड़े होकर अपने सम्बन्धों को नये परिप्रेक्ष्य में देखना हैं, वहाँ जीवन अधिक सहज हुआ है, परिवार में भी और बाहर भी।

यह आत्मनिर्भर और आत्मसजग औरत पुरूष को इस रोबीले शासक की भूमिका से मुक्त कराने में एक हद तक सफल हुई है, जो बहुत अकेला था। पिता या पति होने का अर्थ अब किसी भय से नहीं जुड़ा है। परिवार के सारे बोझ को अपने अकेले कंधों पर ढोने के भार से भी वह मुक्त हुआ है। बहुत दिनों बाद भारत में यह पहली बार हुआ है, जब सही मायनों में स्त्री–पुरूष साथी हो रहे हैं।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान गाँधी जी के आह्वान पर पहली बार औरतें घर छोड़कर बाहर निकली थीं। सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भागीदारी ने उन्हें जो आत्मविश्वास दिया, वह शायद सौ साल की आर्थिक आत्मनिर्भरता भी नहीं दे सकती थी। उस समय बाहर आयी यह औरत खुद का आकलन कर सकने में समर्थ हुई थी। अपने अस्तित्व और अपनी क्षमता को उसने पहचाना था और घर की चहारदीवारी उसके अशोकवन की चहारदीवारी नहीं रह गयी थी। पुरूष ने भी इस औरत को पहचाना था उसकी शक्ति और सामर्थ्य को पहचाना था।

इसके बावजूद यह नही कहा जा सकता कि खुद साबित करने के लिए औरत का संघर्ष आसान हो गया। पुरूष बार–बार प्रश्न खड़ा करता रहा है। औरत को उसकी सीमायें बताने की कोशिश करता रहा है। यह संघर्ष अलग–अलग जगह, भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में, विभिन्न आर्थिक दबावों के बीच अलग–अलग स्तर पर आज भी चल रहा है। बड़े शहरों की मध्यवर्गीय और उच्च मध्यवर्गीय, नौकरीपेशा महिलाओं की उपलब्धियों से अलग हटकर देखें तो अभी काफी लम्बा सफर बाकी है। यहाँ सामन्ती दबावों के बीच जीने को विवश उस औरत का जिक्र भी आवश्यक है। जिसके लिए उसकी शोषित स्थिति ही उसकी नियति है। वहाँ सम्बन्धों में किसी बदलाव की चर्चा ही बेमानी है। इन्हीं में वह दूर–दराज देहात की लड़की भी है, जिसके लिए आठवीं–दसवीं तक शिक्षा पाना ही बहुत बड़ी उपलब्धि बन जाता है। फिर भी यह आसानी से पहचाना जा सकता है कि बर्फ कई स्तरों पर और लगातार पिघल रही है। स्त्री और पुरूष अपनी नयी भूमिकाओं के साथ एक–दूसरे के समक्ष खड़े हैं, उन्हें सम्बन्धों का नया व्याकरण चाहिए। हम चाहें या न चाहें यह व्याकरण विकसित होना ही है। यह अवश्य है कि हमारी ग्रन्थियाँ जहाँ इसे जटिलतर बना सकती है, वहीं हमारा विवेक और हमारी संवेदन शीलता इसे एक स्वच्छ और पारदर्शी स्वरूप प्रदान कर सकते हैं।

अतः निष्कर्षत : कहा जा सकता है कि भारतीय स्त्री की सामाजिक स्थिति का सम्बन्ध उसकी जाति और धर्म से होता है, केवल स्त्री के रूप में स्त्री का विश्लेषण करने से हम सही निष्कर्षों तक नहीं पहुंच सकते। यह वृतान्त स्पष्ट है कि स्त्रियों की मुक्ति का आन्दोलन उसकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक जाति और धर्म के परिप्रेक्ष्य में ही सही ढंग से विश्लेषित किया जा सकता है, यहाँ हर स्त्री और समृद्ध घर में जन्मी स्त्री, एक दलित स्त्री और ऊँची जाति की स्त्री, एक अल्पसंख्यक सम्प्रदाय की स्त्री और बहुसंख्यक वर्ग की स्त्री की सामाजिक स्थितियाँ भिन्न–भिन्न होती हैं। यदि हम इस अन्तर को नहीं समझेंगे तो वहनापे का नारा केवल प्रभुत्वशाली वर्ग के हितों को आगे बढ़ाने वाला नारा बनकर रह जायेगा। हर स्त्री जब मजदूर दलित और अल्पसंख्यक स्त्री के पक्ष में खड़ी होगी तब स्त्रियों का वास्तविक सौहार्द्र होगा, तभी उनमें सही मायने में एकजुटता होगी। केवल जन्म के आधार पर स्त्रियों को एकता की बात करना एक काल्पनिक बात है। इसके आधार पर नारी मुक्ति का कोई आन्दोलन खड़ा नहीं हो सकता।

यौन शोषण, बलात्कार, दहेज हत्या, कन्या भ्रूण हत्या आदि कुछ चिन्ताएँ हैं, जो सिर्फ स्त्रियों से सम्बन्धित हैं। ये हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक व्यवस्था को प्रभावित करती है। भारतीय परम्परा में संस्कृति और धर्म पर बड़ा जोर दिया जाता है। आज ये संस्कृति और धर्म कहीं न कहीं राजनीति से अवश्य जुड़ जाते हैं। अतः बहुत सारी नारी विरोधी राजनीति धर्म और संस्कृति के नाम पर की जाती है। बहुसंख्यक समुदाय की बहुत सी प्रथाओं में स्त्री का दरजा पुरूष में नीचे या दूसरे नम्बर का है। विवाह और उससे सम्बन्धित कर्मकाण्डों तथा रीति–रिवाजों द्वारा स्त्री की 'सेक्सुअलिटी' अर्थात् यौनिकता पर नियंत्रण करने की पूरी कोशिष की जाती है।

वास्तव में स्त्री या पुरूष लेखन में कोई स्वरूपगत भिन्नता हो भी नहीं सकती। संवेदना के स्तर पर दो स्त्रियाँ ही एक नहीं हो सकती फिर पुरूष से भेद क्यों रखा जाए? सच तो यह है कि साहित्य की प्रतिध्वनियाँ पाठक के अन्तर्मन तक जाती हैं। साहित्य मन के बहुत सारे बन्द दरवाजे खोलता है। अतः लेखक/लेखिका को वह लिखना होगा जो पाठक को बार–बार सोचने को विवश करे। स्त्री के बारे में जो लिखा जा रहा है, वह चिन्तन की आधारभूमि तैयार कर रहा है। तभी विमर्श की संभावनाएँ भी बढ़ती नजर आ रही हैं। पर यह स्त्री विमर्श स्त्री और पुरूष को बाँटने वाला लेखन हो ही नहीं सकता।

संदर्भ

1. सीमोन द वोउवार –स्त्री उपेक्षिता, पृ0–212
2. राजेन्द्र यादव एवं अर्चना वर्मा–अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, पृ0–181
3. भावना मासीवाल–अपनी माटी (आलेख–स्त्री विमर्श का स्वरूप) पृ0–6
4. कल्पना वर्मा – संपा0– स्त्री विमर्श : विविध पहलू, पृ0–17
5. वही, पृ0–38
6. वही, पृ0–39
7. वही, पृ0–40
8. कल्पना वर्मा –संपा0– स्त्री विमर्श : विविध पहलू, पृ0–47
9. वही, पृ0–75
10. वही, पृ0–77
11. पुनीत बिसारिया– स्त्री विमर्श के सुलगते सवाल, (आलेख), पृ0–4
12. पुनीत बिसारिया– स्त्री विमर्श के सुलगते सवाल, (आलेख), पृ0–8
13. वही, पृ0–9
14. राज किशोर–संपा0–स्त्री के लिए जगह, पृ0–70
15. वही, पृ0–75
16. वही, पृ0–79
17. वही, पृ0–80
18. डॉ0 मधु मंजरी दुबे – महिला अधिकार, पृ0–65
19. राजकिशोर–संपा0 – स्त्री के लिए जगह, पृ0–154 (लेख–सुमिता)
20. वही, पृ0–155
21. वही, पृ0–156
22. कल्पना वर्मा– स्त्री विमर्श : विविध पहलू, पृ0–195
23. वही, पृ0–206

Copyright © 2017, Harishchandra. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.